ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-4* Issue-11* February- 2020
Anthology : The Research

हिन्दी सिनेमा में बदलते समय के बदलते चेहरे

अमित शुक्ल
सहायक प्राध्यापक,हिन्दी
शासकीय ठाकुर रणमत सिंह
महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.), भारत

सारांश

वर्तमान समय के आधुनिक कलाओं में सिनेमा एकमात्र ऐसी विधा है जिसका आरंभ भारत और यूरोप में लगभग एक साथ हुआ। भारत में 'स्टिल' फोटोग्राफी की कला 1860 में ही पहुँच गई थी। और अगले 20 वर्षों के दौरान कई व्यक्तियों ने इसे पेशे के रूप में अपना लिया था। आरंभ में चलचित्र कैमरे का प्रयोग **'स्टिल'** कैमरे की भाँति हुआ।[1] यह महत्वपूर्ण है कि भारत में फिल्म निर्माण विश्व के अन्य देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा नहीं रहा। पश्चिम में 1910 में चित्रकला के क्षेत्र में पिकासो का घनवाद चल रहा था। भारत में उस समय राजा रवि वर्मा के चित्र धूम मचा रहे थे। यानी भारत चित्रकला में सौ साल पीछे था। यूरोप में 1900 से 1910 के बीच कहानी आंदोलन को चेखव, मोंपासा और ओ. हेनरी ने चरम पर पहुँचा दिया था। भारत में वैसी कहानियाँ सन् 1950 के बाद लिखी गईं। भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने आप में इतनी सशक्त विधा रही कि पश्चिमी संगीत भारत में केवल फिल्मों के जरिए या अंग्रेजों के जाने के बाद ही अपना प्रभाव दिखा पाया। सन् 1913 में दादा साहेब फालके ने फिल्म **'राजा हरिश्चन्द्र'** बनाकर भारत को विश्व सिनेमा के समकक्ष खड़ा कर दिया। जब पहली बार लोागों ने सफेद पर्दे पर तस्वीरों को चलते–फिरते देखा तो वे हतप्रभ रह गए। लोग एक ऐसे तिलिस्म में डूब गए जो उनकी समझ से परे था। यह मूक सिनेमा का युग था। सन् 1913 से 1930 तक सिनेमा को एक चमत्कार की तरह लिया गया। इस समय में फिल्म निर्माण का श्रीगणेश पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से किया गया। यह उस वक्त के सामाजिक जीवन के अनुकूल भी था, क्योंकि विज्ञान और तर्कसम्मत बातें भी उस दौर में धार्मिक आख्यानों के माध्यम से समझाई जा सकती थीं। इस दौर में सती विषयक फिल्में खूब बनीं और बिकीं। इसके पश्चात् 1931 में जब सवाक् फिल्मों का युग आया तब यह दूसरा चमत्कार था। पर्दे पर चलने–फिरने वाली तस्वीरें अब बोलने भी लगी थी। भारत में अंग्रेजों का कठोर प्रशासन और आम जनता का शोषण व दमन जारी था। बीच में प्रथम विश्वयुद्ध (1914–1918) ने पूरे विश्व को हिला दिया, मगर भारतीय फिल्में अपनी पौराणिकता में ही डूबी थीं। ऐसे समय में जब आजादी की लड़ाई ने जोर पकड़ा और राजनीतिक परिदृश्य पर गांधीजी का पदार्पण हुआ तब फिल्मों में भी सामाजिक चेतना की कुछ झलक दिखाई देने लगी।[2]

प्रस्तावना

आजादी मिलने के बाद 1950 से 1970 तक देश के नवनिर्माण के विषयों पर बनी फिल्मों का दौर रहा। अगले दो दशकों में भारतीय सिनेमा के परिदृश्य में काफी बदलाव आया। **'शोले'** फिल्म सुपर–डुपर हिट हुई। गली–गली में गब्बर की आवाज गूँजने लगी। इस दौर में पारिवारिक रिश्तों से त्याग और सेवा की भावना विदा लेने लगी। रिश्तों में दरार दिखाई दी। पर्दे पर संयुक्त परिवार की अवधारणा टूटने–बिखरने लगी। 'बैंडिट क्वीन' और 'जंगल' जैसी फिल्मों में हिंसा संवेदनाओं को खत्म कर देने की पराकाष्ठा तक पहुँच गई। हिंसा से ऊबे दर्शकों ने एक बार फिर परिवार, परम्परा और रूमानियत की ओर लौटना पसंद किया। बॉलीवुड में बनने वाली फिल्मों की सफलता का राज यह है कि वह आरंभ से ही किशोरों को प्यार का सपना बेच रही हैं। दर्शक वही सपने देखना पसंद करता है जिसकी चाह उसे रही पर जीवन में उसे मिल नहीं पाया। आज सामाजिक जीवन बिल्कुल बदल चुका है, सदी ने नई करवट ली है, माहौल में आपाधापी है, समय की कमी है, दृष्टिकोण के साथ जीवनधारा में भी बदलाव आया है। राजनीतिक अस्थिरता, महंगी जीवन पद्धति और सुविधाओं के विस्तार के साथ ही जीवनधारा भी बदल गई है। अतः मनोरंजन की कसौटियाँ भी बदल गई हैं। और इस बदलाव में संबंधों की भावात्मकता और रूमानियत

की भीनी खुशबू पुनः लुभा रही है।[3]

बदलते परिदृष्य मे भारतीय सिनेमा

भारत में सिनेमा का इतिहास अब एक सौ पन्द्रह वर्ष का हो गया है। सात जुलाई 1896 में जब मुंबई के वाटसन होटल में फ्रांस निवासी ल्यूमियर बंधुओं (आगस्ट और लुई) ने अपने छायाचित्रों का प्रदर्शन किया था, तब सिनेमा के जन्मदाताओं को ये अनुमान लगाना मुश्किल रहा होगा कि फिल्में ऐसे युग में भी प्रवेश कर जाएंगी जिसमें पर्दे पर मनुष्य को हवा में ऊँची छलाँग लगाते हुए दिखाया जाएगा और पलक झपकते ही मकड़ी मनुष्य बन जाएगी और मनुष्य मकड़ी। करोड़ों साल पहले लुप्त हो चुका डायनासोर एक बार फिर बसे बसाये आधुनिक शहर को तहस–नहस कर देगा। क्योंकि तब हॉलीवुड भी अपने शैशवकाल में ही था। मुंबई में जब ल्यूमियर ने अपने छायाचित्रों को प्रदर्शित किया था, तब के दर्शकों के लिए यह किसी अजूबे से कम न था। क्योंकि लोगों ने पहली बार इन चित्रों को गतिशील शैली में देखा था।[4] ये दृश्य थे–रेलगाड़ी का चलना, समुद्र में स्नान करना, दीवार का ढहना? बच्चों का नाश्ता करना, फैक्ट्री से मजदूरों का बाहर निकलना इत्यादि। तब के समाचारपत्रों में इस प्रदर्शनी को 'सदी का चमत्कार' और 'दुनिया का नया आश्चर्य' कहा गया था। किन्तु ये सभी विदेशी फिल्में ही होती थीं। दो साल बाद 1898 में भारतीय स्थलों की फिल्में बनीं तो जरूर, लेकिन इनका भी निर्माण अंग्रेजों ने किया था। वास्तव में हिंदुस्तान में सिनेमा के भारतीय संवर्द्धकों में हरिश्चन्द्र सखाराम भाटवडेकर उर्फ सावे दादा का नाम काफी आदर से लिया जाता है। सावे दादा पहले भारतीय थे, जिन्होंने सन् 1897 में लंदन से मोशन पिक्चर कैमरा मंगवाया था इसके बाद उन्होंने कई वृत्तचित्र बनाए–जिसमें 1903 में 'एडवर्ड सप्तम का राज्याभिषेक' भी शामिल था। यानी भारत में सिनेमा की नींव यथार्थ और सामाजिकता रही है। आगे चलकर व्यवसायोन्मुखी कल्पनाशीलता ने सिनेमा को घर–घर में जरूर लोकप्रिय बनाया, लेकिन कमजोरों के अधिकार और सोद्देश्यता से उसका सरोकार हमेशा बना रहा। सावे दादा के समानान्तर ही हीरालाल सेन फिल्मोद्योग की एक ऐसी शख्सियत के रूप में सामने आए जिन्होंने शुरुआत भले ही नाटकों से की थी लेकिन वे पहले फिल्मकार थे जिन्होंने अपने कैमरे से क्लोजअप पैनिंग और टिल्ट इत्यादि प्रभावों को उत्पन्न किया था। उस दौर के मुताबिक ये तकनीकें अत्यंत आधुनिक मानी गई थीं। हीरालाल सेन ने 1906 में **'बंगाल विभाजन का आंदोलन'** नामक वृत्तचित्र बनाया, जिसे काफी महत्वपूर्ण माना गया। सिनेमा को वृत्तचित्र की दुनिया से निकालकर कथा–चित्र की दुनिया में पहुँचाया दादा साहेब फालके (धुंडिराज गोविन्द फालके) ने, जिन्हें भारतीय सिनेमा के पितामह के रूप में जाना जाता है। फालके हिंदी सिनेमा की वह शख्सियत थे, जिन्होंने स्थिर छायांकन और वृत्तचित्र से कई कदम आगे बढ़कर काम को अंजाम दिया। सन् 1910 में एक विदेशी फिल्म **'क्राइस्ट का जीवन'** ने उनकी कल्पना को पंख लगा दिए। उन्होंने इसी शैली में **'श्रीकृष्ण का जीवन'** नाम से फिल्म बनाने का विचार किया।[5] लेकिन उन दिनों मुंबई में **'राजा हरिश्चन्द्र'** नाटक काफी लोकप्रिय हो चुका था, लिहाजा उन्होने इसी विषय पर फिल्म बना डाली। यह 21 अप्रैल 1913 को मुंबई के ओलंपिया सिनेमा में प्रदर्शित हुई। इसके बाद भारत में मूक फिल्मों का चलन शुरू हो गया। मूक सिनेमा के दौर में कई महत्वपूर्ण फिल्मकार सामने आए, जिन्होंने फिल्मों को एक नई ऊँचाई दी और आगे बढ़ाया। इनमें महत्वपूर्ण हैं–जमशेदजी मदन, ीरेन्द्रनाथ गांगुली, बाबूराव पेंटर, द्वारकादास एन. सम्पत, आर्देशिर एम. ईरानी, भोगीलाल एम.के. दुवे, चंदूलाल जे. शाह आदि। मूक फिल्मों का यह दौर करीब अठारह वर्षों तक चला। मूक फिल्मों की एकरसता से लोग ऊबने लगे थे। पश्चिमी देशों में दर्शकों की घटती संख्या के कारण सिनेमा हाल बंद होने लगे। 1927 में वार्न बंधुओं ने दुनिया की पहली सवाक फिल्म 'द जॉज सिंगर' बना डाली। भारत में चार साल बाद 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनी। आर्देशिर एम. ईरानी द्वारा निर्देशित यह फिल्म 14 मार्च, 1931 को मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा हॉल में प्रदर्शित हुई। इसे देखने के लिए दर्शक टूट पड़े।[6] इस तरह भारत में सिनेमा ने करीब 35 वर्षों के लंबे संघर्ष के पश्चात् ठीक से चलना, फिरना और बोलना शुरू किया। इसके बाद नई ऊँचाइयों, नई उपलब्धियों, नये मुकामों और नये प्रयोगों का सिलसिला चल पड़ा। आज सिनेमा स्पेशल इफेक्ट्स और डिजिटल युग में प्रवेश कर चुका है। सिनेमा के पर्दे पर कोई करतब दिखाना मुश्किल नहीं रहा। 1931 से 1947 तक भारतीय सिनेमा ऐतिहासिक और समाज सुधार के विषयों से गुंजायमान रहा। **'दौलत का नशा' (1931), 'चण्डीदास' (1932), 'पूरन भगत' (1933)** जैसी फिल्मों ने सामाजिक चेतना की बुनियाद रखी थी। न्यू थियेटर्स के तीन प्रमुख स्तंभों–देवकी बोस, नितिन बोस और प्रमथेश बरुआ ने ऐसी फिल्मों का निर्माण किया जो सामाजिक परिवर्तन का अलख जगाने वाली साबित हुईं। 1936 में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना, मार्क्सवाद की नई बौद्धिक लहर और साथ में गांधीवाद तथा देशभक्ति की प्रेरणा ने सिनेमा को विशेष रूप से प्रभावित किया। फिल्म 'प्रेसीडेंट' की सफलता के बाद नितिन बोस ने 1938 में 'धरतीमाता' बनाई। यह फिल्म खेत–खलिहानों में काम करनेवालें की जिंदगी पर आधारित थी। यही दौर था जब प्रमथेश चंद्र बरुआ ने 1935 में न्यू थियेटर्स के लिए शरतचंद्र चट्टोपध्याय के लोकप्रिय उपन्यास देवदास पर इसी नाम से फिल्म बनाई थी। इस फिल्म के गीत और संवाद केदार शर्मा ने लिखे थे और अभिनेता थे–कुंदनलाल सहगल। इस फिल्म ने सफलता के रिकार्ड बनाये। न्यू थियेटर्स की एक और चर्चित फिल्म थी–'स्ट्रीट सिंगर', जिसका निर्देशन फणि मजदूर ने किया था। 1938 में बनी इस फिल्म में नायिका थी–कानन देवी।[7]

आजादी से पहले न्यू थियेटर्स के अलावा दो अन्य प्रमुख फिल्म कंपनियों–प्रभात फिल्म और बॉम्बे टॉकीज का खासा बोलबाला था। प्रभात फिल्म से जुड़े थे–विष्णु पंत दामले, सैयद फतेह लाल, वी. शांताराम और के. धायबर। और बॉम्बे टॉकीज की स्थापना हिमांशु राय ने की थी। हिंदी सिनेमा को नई ऊँचाई दिलाने में इन दोनों फिल्म कंपनियों का विशेष योगदान है। वी. शांताराम ने तो हिंदी सिनेमा को अंतर्राष्ट्रीय पहचान दी। प्रभात फिल्म के लिए वी. शांताराम ने कई फिल्मों का निर्देशन किया, जिनमें 'सैरन्ध्री' के अलावा 'दुनिया ना माने' (1937), 'आदमी' (1939) और 'पड़ोसी' (1941) हैं। 'पड़ोसी को सांप्रदायिक सद्भाव की खास फिल्म माना गया। इसके पश्चात् वी. शांताराम ने 1941 में अपनी अलग फिल्म कंपनी बनाई–'राजकमल कला मंदिर'। इस कंपनी की पहली फिल्म थी–'शकुन्तला'। लेकिन 1946 में बनी 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी फिल्म से शांताराम की चर्चा सर्वत्र छा गई। उधर बॉम्बे टॉकीज के माध्यम से हिमांशु राय ने अशोक कुमार जैसे प्रतिभाशाली अभिनेता की खोज कर ली थी। अशोक कुमार की पहली फिल्म थी, 'जीवन नैया' (1936), इस फिल्म में नायिका थी–देविका रानी। ये दौर समाज सुधार आंदोलनों का भी था, फलस्वरूप जनसंचार का माध्यम सिनेमा भी इससे अछूता कैसे रहता। 1936 में ही अस्पृश्यता विषय पर फिल्म बनी–'अछूत कन्या'। अशोक कुमार और देविका रानी की जोड़ी ने एक बार फिर इस फिल्म को लोकप्रियता के मुकाम तक पहुँचा दिया। 1942 तक आते–आते हिंदी सिनेमा देशभक्ति की भवनाओं से लबरेज हो उठा। 'किस्मत', 'बापू की अमर कहानी', 'शहीद', 'हम एक हैं', 'हमराही', 'पड़ोसी', 'फोर्टी–टू', 'नीचा नगर', 'अपना देश', 'आग', 'बरसात', 'जैसी' फिल्मों में रोमनी और सामाजिक भावनाओं के साथ–साथ राष्ट्रवादी जज्बातों को भी अभिव्यक्ति दी गई थी।[8]

15 अगस्त, 1947 के बाद शासकीय–प्रशासकीय आजादी के साथ–साथ लिखने, बोलने और फिल्मोग्राफी की आजादी ने सिनेकारों को नई जिन्दगी दे दी। नव स्वतंत्र सिनेमा के उन्नायकों में महत्वपूर्ण हस्ताक्षर बने–महबूब खान, वी. शांताराम, गुरूदत्त, बिमल राय, राजकपूर, हेमेन गुप्ता, चेतन आनंद, बी.आर. चोपड़ा कमाल अमरोही, ख्वाज़ा अहमद अब्बास और दत्ता धर्माधिकारी आदि न केवल चौथा बल्कि पांचवा और छठा दशक भी इन फिल्मकारों की उपलब्धियों से गुंजायमान रहा। हिंदी फिल्मों के ये ऐसे निर्माता–निर्देशक हुए, जिन्होंने कोरी व्यावसायिकता से कभी समझौता नहीं किया, हाँ, मनोरंजक मेलोड्रामा की पेशकश जरूर की, लेकिन संवेदना और समाज के हित के जज्बे को हमेशा बरकरार रखा। इनकी फिल्में महज तमाशा नहीं बल्कि एक रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रतीत होती हैं। 'मुगले आज़म', 'मदर इण्डिया', 'दो आँखें बारह हाथ', 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'दो बीघा जमीन', 'देवदास', 'आवारा', 'बरसात', 'धूल का फूल', 'धरती के लाल', 'धरती पुत्र', 'गुमराह' इत्यादि, फिल्में हिंदी फिल्मोद्योग की नामक प्रस्तुतियाँ हैं। इन्हीं की बदौलत हिंदी सिनेमा के इस दो दशक को स्वर्ण युग कहा गया। सातवें दशक के बाद हिन्दी सिनेमा मुख्य तौर पर दो भागों में बंट गया था। स्वर्ण युग के फिल्मकार, जो कि सोच–विचार और भावुक संवेदना का धरातल तैयार कर गए थे–उन्हीं को सातवें दशक के फिल्मकारों ने पृथक–पृथक कर दिया। एक धड़ा ऐसा हुआ जो शुद्ध मनोरंजनवाद को शरणागत हो गया, तो दूसरा धड़ा फ्रांस के न्यूवेव आन्दोलन से प्रेरित था। इस दूसरे धड़े यानी कला सिनेमा की प्रेरणा भूमि बंगाल की भूमि भी रही। जहाँ सत्यजीत राय ने पाथेर पांचाली और ऋत्विक घटक ने नागरिक जैसी फिल्मों का निर्माण कर लिया था। हिन्दी में इस दौर की उल्लेखनीय फिल्में हैं–भुवनशोम, भवनी भवाई, गर्म हवा, माया दर्पण, 36 चौरंगी लेन, पार, मिर्च मसाला, तरंग, निशांत, रजनीगंधा, फिर भी, अर्द्धसत्य, बाघ बहादुर, दामुल और सलाम बांबे आदि। वास्तव में इन फिल्मों के माध्यम से श्याम बेनेगल, मृणाल सेन, ऋत्विक घटक, केतन मेहता, तपन सिन्हा, सई परांजपे, गोविन्द निहलानी, प्रकाश झा, मीरा नायर, दीपा मेहता जैसे मूलतः प्रगतिशील विचारधारा के फिल्मकारों ने अंधविश्वास, रूढ़ि, शोषण के खिलाफ जोरदार आवाज बुलन्द की थी। हालांकि कालान्तर में ये आवाज समारोहों की दीवारों में कौंधकर रह गई इसीलिए आर्थिक घाटे से उपजी विवशता के कारण इन फिल्मकारों को गीत–संगीत आधारित संदेश प्रधान फिल्में बनानी पड़ी।[9] सातवें दशक के पश्चात् मुख्यधारा के सिनेमा की बात करें तो अपराध का पर्दाफाश इस दौर का खास विषय प्रतीत होता है। इसकी शुरूआत 1975 में बनी यश चोपड़ा द्वारा निर्देशित फिल्म दीवार से मानी गई। इस फिल्म की लोकप्रियता ने हिन्दी सिनेमा के समीकरण बदल दिए। इस साल शोले की ऐतिहासिक प्रसिद्धि से सिनेमा का पुनर्जागरण काल आ गया। इससे फिल्म उद्योग को जबर्दस्त आर्थिक लाभ हुआ और लाखों का कारोबार करोड़ों में पहुँच गया। दीवार और शोले की शैली में आगे चलकर भारतीय फिल्में जितनी मुखर हुई, बॉलीबुड का कारोबार बढ़ता गया। इस उछाल में सुपर स्टार अमिताभ बच्चन का बड़ा योगदान माना गया। आठवें दशक के आरम्भ में भारतीय सिनेमा स्टार संतान के युग में प्रवेश कर गया। और नये सिरे से स्टारडम और ग्लैमर का सम्मोहन देखने को मिला। युवा हो रही पीढ़ी को इन नये चेहरों ने खासतौर पर प्रभावित किया। यह वही दौर था जब शहरी बयार गाँवों तक पहुँच चुकी थी और फिजां में वैचारिक खुलापन की आंधी समा चुकी थी। विकल्प और पर्याय की तलाश नया फैशन थी। स्टार संतान की फिल्मों ने इस चलन को बढ़ावा दिया था। लेकिन भारतीय सिनेमा की सबसे खास बात यह रही कि सामाजिकता और पारिवारिकता का जो धरातल उसे विरासत में मिला, कुछ अपवादों को छोड़कर उससे नाता कभी नहीं टूटा। शोषण और अंधविश्वास के खिलाफ फिल्में आगे भी बनती रहीं, अपाहिजों और कमजोरों को संवेदना देने वाली फिल्मों का सिलसिला चलता रहा। स्त्री फिल्मों का खास विषय रही है, लेकिन इस स्त्री का केवल अंग प्रदर्शन नहीं किया गया बल्कि उसके अधिकारों, उसके अकेलेपन, उसकी उपेक्षाओं

के हक में अछूत कन्या से लेकर दामिनी तक आवाजें उठाई गई।[10]

अब हिन्दी फिल्मोद्योग की ख्याति अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच गई है। इस उपलिब्ध को हासिल कराने में नई पीढ़ी के फिल्मकारों का महती योगदान माना जाता है। आशुतोष ग्वारिकर, जगमोहन मूंदड़ा, करन जौहर, रामगोपाल वर्मा, मधुर भंडारकर, संजयलीला भंसाली, फरहान अख्तर आदि ने हिन्दी सिनेमा को एक नई ऊँचाई दी है। इनकी फिल्में चाहे लगान हो, दिल चाहता है हो, देवदास हो या फिर रंग दे बसंती हो, या डान 2 हो, इन फिल्मों ने दुनियाभर में शानदार बिजनेस किया है।

बालीवुड में बदलाव का मंजर

बालीवुड अब बहुत तेजी से हर मंजर पर बदलाव महसूस कर रहा है। बाजार में टिके रहने का अब कोई एक फार्मूला फिल्म पर पैसा लगाने वालों की तकदीर नहीं बदलता। अब फिल्में कम हिट होती हैं। म्यूजिक एलबम, पटकथा, चरित्र अभिनेता, सिनेमैटोग्राफी, निर्देशक या कामेडी का रिमेक कुछ भी यानी पुराने क्लासिक सितारों/जोड़ियों की टेबल बुक तक हर हफ्ते उत्पन्न परचम लहरा सकते हैं। बड़े बैनर, नखरीले प्रोड्यूसर मॉडल, कास्टयूम डिजाइनर के बजाय छोटे–बजट से बनी फिल्में, उनकी टीम भावना, नयी–नयी सिम्फनी, बैंड, मैले उथले यथार्थपरक विषय और डिजिटल प्रयोग विधियाँ कब धमाका कर दें कुछ कह नहीं सकते। सिनेमा की धुरी समझे जाने वाले हीरो–हीरोइन तक अब जड़ाऊ माल हैं। उनके श्रृंगारिक स्वप्न दृश्य, एक्शन, प्रेमालाप, बदन उघाड़ प्रदर्शन या खलनायकों जैसी मुद्राएँ, वैंप जैसी क्रियाएँ आज भी बिक रहे हैं। पर उनका बाजार भाव नये हाव–भाव वाले प्रतिभावान युवा निर्देशकों, अभिनेता–अभिनेत्रियों, संगीतकारों, प्रयोगशील गीतकारों और नये युवाा तकनीशियनों ने गिरा दिया है। इस परिवर्तन की बयार हर दिशा में बह रही है। बाल या किशोरों के मनोविज्ञान पर आधारित फिल्में तक खूब नाम कमा रही हैं। देशी सिनेमा की थ्री डाइमेंशन विधियाँ बड़ी और छोटी परिधि की फिल्मों के तमाशे को पीछे छोड़ चुकी हैं।

21वीं सदी का दूसरा दषक और सिनेमा

21वीं सदी का भारतीय सिनेमा, उसका बाजार और प्रभाव देश की सीमाओं तक ही केंन्द्रित नही है। उसने विश्व सिनेमा बाजार में भी अपनी जगह बना ली है और अपनी पकड़ मजबूत करने के लिए काम कर रही है। दुनिया में सब से तेजी से विकसित हो रही अर्थव्यवस्था वाले भारत और संपूर्ण विश्व के विभिन्न देशों में जा बसे भारतीयों और वहाँ के विकास में उनके प्रभावकारी योगदान के चलते भारतीय सिनेमा अब दुनिया के मनोरंजन बाजार का एक प्रमुख और बड़ा खिलाड़ी बन चुका है। आधुनिक तकनीक और प्रौद्योगिकी के उपयोग, कहानी–कला और प्रस्तुति के नजरिये से इसे विश्व सिनेमा में अपना मुकाम बनाने के लिए अभी बहुत कुछ करना बाकी है। दुनिया वास्तव में अब एक ग्लोबल विलेज का रूप ले चुकी है। भारतीय सिनेमा आज यूरोप और अमरीका के ही नहीं दक्षिणी अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड तक के देशों में अपनी पैठ बना चुका है। इन देशों के प्रमुख शहरों में भारतीय फिल्में देखी और सराही जाती हैं। इन्हें देखने वालों में केवल भारतीय और भारतीय मूल के ही नहीं बल्कि उन देशों के दर्शक भी हैं जो न केवल भारतीय फिल्में देखते–समझते हैं बल्कि उन्हें आनंद भी आता है। एक समय था कि सिनेमा और उसका प्रभाव देशों की सीमाओं तक ही केंन्द्रित रहता था। भारतीय दर्शकों को विदेशी फिल्में देखने का अवसर कभी–कभार ही मिल पाता था। वह अवसर भी अधिकतर प्रमुख महानगरों तक ही सीमित रहता था, लेकिन सेटेलाइट के माध्यम से टेलीविजन के प्रचार प्रसार ने विश्व सिनेमा को अब महानगरों की सीमा से निकाल कर देश के शहरों, कस्बों और गाँवों तक पहुँचा दिया है। दूरसंचार के साधनों मोबाइल फोन और थ्री–जी जैसी सुविधाओं के विकास और उपलब्धता के साथ अब यह माध्यम और भी गहरी पैठ बनाता जा रहा है। इसके साथ ही अब सिनेमा का प्रभाव क्षेत्र और अधिक बढ़ने के आसार हैं। भारतीय सिनेमा को इन बुलंदियों तक पहुंचाने में तथा इसका पहल करने वालों की दूरदृष्टि, आशावादिता एवं लीक से हटकर चलने के कारण उनके सामने आने वाली चुनौतियों के बीच उनके प्रयासों द्वारा किए गए योगदान को हमें याद रखना चाहिए। भारत के साथ फिल्म देखने के तौर तरीके भी बदले हैं। सिनेमाघर अब केवल मनोरंजन तक ही सीमित नहीं रह गए हैं। वे शॉपिंग मॉल संस्कृति के साथ मनोरंजन के समग्र बाजार का एक अभिन्न अंग बन चुके हैं। अब एकल पर्दे वाले सिनेमाघरों का दौर समाप्त हो रहा है और उसके स्थान पर मल्टी स्क्रीन वाले आधुनिक सुख–सुविधाओं और तकनीक से लैस सिनेमाघरों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। आर्थिक विकास एवं लोगों की आमदनी बढ़ने से भारतीय जन मनोरंजन पर अधिक खर्च कर पाने की स्थिति में है। इसलिए सिनेमा देखना मंहगा होने के बावजूद इसकी लोकप्रियता बढ़ती ही जा रही है। आज भारत एक ऐसा देश बन चुका है जहाँ दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्मों का निर्माण होता है। हिन्दी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में बनने वाली फिल्मों के दर्शकों की दुनिया में सबसे ज्यादा तादाद है।[12] इस समय देश भर में सिनेमा की दुनिया में करीब 20 लाख लोगों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से रोजगार मिला हुआ है। औसतन 800 फिल्मों का निर्माण प्रतिवर्ष किया जा रहा है। फिल्में देखने वालों की संख्या रोजाना करीब डेढ़ करोड़ आंकी गई है। भारतीय सिनेमा बाजार को करीब ढाई अरब अमरीकी डॉलर का आंका गया है। बंबइया फिल्में जिसे बॉलीवुड भी कहा जाता है, भारतीय सिनेमा का सबसे बड़ा हिस्सा है।

सेक्स की शुरूआत और सफल सिनेमा

सहस्त्राब्दी के दस्तक देने तक मुख्यधारा के सिनेमा में सेक्स सिर्फ कामेच्छा का प्रदर्शन मात्र नहीं था क्योंकि इसे अनैतिक माना जाता था, 2000 के

बाद का समय अपने साथ ऐसी औरतों की पीढ़ी लाया जो पहले से अधिक हठधर्मी, जिनकी अपनी सोच थी तथा सेक्स और वासना में फर्क करना जानती थीं, वे सिर्फ छुअन भर पर प्रतिक्रिया करने वाली नहीं थीं, वे भी शुरूआत करने वाली बन रही थीं, व्यवहार में आए बदलाव के साथ मुख्यधारा के सिनेमा में भी नाच और मोहपाश में फंसाने वाली परिस्थितियों के उलट दृश्य सम्बन्धी निरूपण के विचार को स्वीकार किया, यौन सम्बन्धों के निरूपण के इतिहास के दृष्टिगत निम्न पांच फिल्में अत्यंत सेक्सी रहीं–[13]

1. सत्यम शिवम सुन्दरम् (1978)–यह उस समय की एकमात्र मुख्य धारा की फिल्म है जिसने कामेच्छा के विषय को संबोधित किया इसमें सेक्स और जिस्म दोनों हैं इसमें एक औरत का दो तरह से विभाजन है जो अपने चेहरे के एक ओर से तो संपूर्ण है और दूसरी ओर से चेहरा जला हुआ है, इससे पता चलता था कि कामेच्छा का सरोकार इस बात से था कि इसको कैसे पेश किया जाता है और रहस्यों की समझ भी इससे जुड़ी है।

2. उत्सव (1984)–उत्सव ऐसी फिल्म थी जिसने सेक्स का महिमा मंडन किया और उसे बढ़ चढ़कर बताया, बेशक चाहे यह किसी को मोहपाश में फंसाना हो या खुद इससे जुड़ना, यह इसे प्रकृतिजन्य के तौर पर पेश नहीं करती बल्कि एक शिल्प के रूप में पेश करती है जिसमें पारंगत होना जरूरी है, और जिसे पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ाया जाना चाहिए।

3. आस्था (1997)– आस्था फिल्म उस समय आई जब वैश्वीकरण का विचार अभी आया ही था यह उपभोक्तावादी युग की शुरूआत थी, फिल्म की कहानी इस पर केन्द्रित थी कि किसी भी चीज को किसी भी कीमत पर खरीदा जा सकता है, यह एक मध्यमवर्गीय औरत की कहानी है जो अपने बच्चों की जरूरतों को पूरा करने के लिए खुद को बेचती है क्योंकि उसका पति कम वेतन के कारण परिवार की इच्छाओं को पूरा करने में असमर्थ था।

4. इश्किया (2010)–इश्किया इसलिए सेक्सी थी क्योंकि हिन्दी सिनेमा में पहली बार ऐसी महिला को मुख्य पात्र के रूप में पेश किया गया था जो वासना के आगे झुक जाती है और एक रात की मस्ती से कतई परहेज नहीं करती यह परम्पराओं का बड़ा उल्लंघन था क्योंकि मुख्यधारा के सिनेमा में बतौर नायिका किसी ने कभी भी कामेच्छाओं को प्रेम से अलग नहीं किया।

5. एल.सी.डी. (2010)–यह अन्य किसी भी फिल्म से एकदम अलग थी फिल्म में नयनसुख को जिस तरह पेश किया गया वह अत्यंत रूचिकर था। साफ तौर पर हल्का और विचारों को जगाने वाला, इसमें लोगों का एक दूसरे के जीवन को लेकर जुनून दिखाया गया है, बताया जाता है कि लोग इसमें गुप्त रूप से झांकने की कीमत चुकाते हैं और कोई इस तरह के जुनून के साथ किस हद तक गुजर सकता है।[14]

21वीं सदी के वर्तमान सिनेमा की व्यावसायिकता का बदलता स्वरूप

भारतीय फिल्म उद्योग में पैसा अब पानी की तरह बह रहा है। एक फिल्म के लिए 50 से लेकर 100 करोड़ तक खर्च करने में भी निर्माताओं को गुरेज नहीं है। कलाकारों को मुंहमांगे दाम मिल रहे हैं। पैसा लग रहा है तो पैसा आ भी रहा है। टिकटों के दाम बेतहाशा बढ़े हैं और हफ्ते भर में फिल्में पूरी लागत निकाल ले रही हैं। एक फिल्म के लिए किसी अभिनेता को भुगतान का आंकड़ा 27 करोड़ रूपये तक जा पहुँचा है। फिल्म शिवाजी के लिए तमिल सुपरस्टार रजनीकांत ने इतनी ही रकम ली थी। रजनीकांत अगर भारतीय सिनेमा के इतने महंगे सितारे हो चुके हैं तो हिन्दी फिल्मों के सितारे भी कम नहीं है। बताया जाता है कि अक्षय कुमार एक फिल्म करने के लिए 15 करोड़ रूपये मांगते हैं। आमिर खांन व शाहरूख खांन भी ज्यादा पीछे नहीं हैं, उन्हें एक फिल्म के लिए 20 करोड़ रूपये तक मिलते हैं। इधर, सलमान हैं कि दबंग, व रेडी की सफलता के बाद उनका सितारा आसमान पर जा पहुँचा है। उनके दाम 50 करोड़ रूपये प्रति फिल्म हो चुके हैं और निर्माता उनको इतना पैसा देने को तैयार भी हैं। करीना कपूर 10 करोड़ में फिल्म साइन कर रही हैं। इन नामी कलाकारों के साथ–साथ बाल कलाकार भी कम पीछे नहीं हैं। फिल्म तारे जमीं पर के मुख्य कलाकार दर्शील सफारी को एक फिल्म के लिए 80 लाख से 1 करोड़ रूपये तक ऑफर किए जा चुके हैं और तो और, फिल्म में काम करने का पैसा लेने के अलावा, बड़े सितारे फिल्म की कमाई से भी अपना हिस्सा लेने लगे हैं। फिल्म में काम करने पर कलाकारों को पैसा तो खूब मिल रहा है साथ ही एक फिल्म के निर्माण में बेतहाशा पैसा खर्च किया जा रहा है। प्राप्त जानकारी के अनुसार अक्षय कुमार की मुख्य भूमिका वाली फिल्म चांदनी चौक टू चाइना बनाने में 100 करोड़ के आसपास खर्च आया था। इस फिल्म के लिए हॉलीबुड के जाने माने स्टंट डायरेक्टर हुएन श्यू–कू की सेवाएँ ली गई थीं। जाहिर है वह भी निर्माता को सस्ते में नहीं पड़ा होगा। अब, चूंकि फिल्म बनाना एक धंधा है तो निर्माता इसमें अपना फायदा देखकर भी चलता है। ऐसे में यह समझना मुश्किल नहीं कि मल्टीप्लेक्स के इस जमाने में एक फिल्म इतना बिजनेस कर जाती है कि उसे बनाने का खर्च तो निकल ही जाए, वह निर्माता को ठीक–ठाक फायदा भी दे जाए। एक दशक में भारतीय फिल्म एवं मनोरंजन उद्योग ने बड़ी करवट ली है। इतनी बड़ी करवट कि भारतीय अर्थव्यवस्था में इस उद्योग का योगदान साल 2008 में 35000 करोड़ रूपये हो चुका है। इस स्तर का योगदान तो विज्ञापन जगत का भी नहीं है। प्राइसवाटरहाउस कूपर्स की एक रिपोर्ट में साफ संकेत है कि साल 2013 के खत्म होने तक यह योगदान 60000 करोड़ रूपये तक जा पहुँचेगा और यह उस देश का सच है, जहाँ जनसंख्या के हिसाब से सिनेमाघरों की संख्या दुनिया के अन्य देशों के

मुकाबले काफी कम है। भारतीय मनोरंजन उद्योग की अर्थव्यवस्था की पतंग अगर तेजी से चढ़ती गई है, तो इसके बड़े कारणों में एक यह भी है कि अब भारतीय सिनेमा के सामने देशी बाजार ही नहीं है, बल्कि विदेशी बाजार भी खुले हैं। अब फिल्म को भारत के साथ–साथ अमेरिकी व यूरोपीय बाजारों में भी रिलीज किया जा रहा है। खासकर उन स्थानों पर जहाँ भारतवंशी ज्यादा तादात में हैं और जहाँ नहीं हैं, वहाँ इन्हें अंग्रेजी या स्थानीय भाषा के सब टाइटल्स के साथ दिखाया जा रहा है। नई प्रवृत्ति तो यह भी है कि फिल्म को विदेशी बाजारों में वहाँ की भाषा में डब करके ही उतारा जाए। हालिया फिल्म डेल्ही बेली को हिंदी व अंगेंजी दोनों भाषाओं में रिलीज किया गया था। फिल्म के निर्माण के खर्च में सिर्फ डबिंग का खर्च बढ़ा, लेकिन दर्शक खींचने का लक्ष्य कई गुना बड़ा हो गया। यानी पैसा अब दुनिया के कोने–कोने से आ रहा है। यह पैसा फिल्म निर्माण का बजट नहीं बढाएगा तो कहाँ जायेगा। अगली फिल्म में और ज्यादा कमाई का लक्ष्य लेकर चलेगा निर्माता। इसके लिए वह ज्यादा बिकने वाले कलाकारों को उनके मुंहमांगे दाम भी देगा और अपनी फिल्म को तकनीकी रूप से ज्यादा मजबूत बनाकर पेश भी करेगा। अब भारतीय फिल्में विज्ञापन का जरिया बन गई हैं। पुरानी फिल्मों के दृश्यों पर दृष्टि डालने पर नजर आता है कि शायद ही कोई ऐसा दृश्य हो, जिसमें कलाकार किसी उत्पाद का विज्ञापन न कर रहे हों लेकिन अब यह प्रवृत्ति जोर पकड़ चुकी है और फिल्म निर्माण कंपनियों को अतिरिक्त कमाई भी दे रही हैं। कितने ही दृश्य ऐसे हैं जिसमें डांस या कालेज फेयरवेल के दौरान पीछे किसी उत्पाद का विज्ञापन बोर्ड नजर आता है। कितनी ही बार ऐसे दृश्यों खासकर कालेज की फेयरवेल पार्टी या डांस कंपीटिशन के दृश्यों, में यह बोला जाता है कि फंला–फंला के सौजन्य से इसे पेश किया जा रहा है। सौन्दर्य प्रसाधन बनाने वाली एक नामी कंपनी का जिक्र तो कितनी ही बार आता है। गानों तक में उत्पादों में नाम इस्तेमाल किए जाने लगे हैं। मुन्नी बदनाम गीत में झंडू बाम का जिक्र है। झंडू कंपनी का बयान आया कि यह गाना रिलीज होने के बाद बाम की बिक्री कई गुना बढ़ गई। बहुत बार दृश्यों में कुछ खाते–पीते दिखाया जाता है तो कलाकार उस ब्रांड का नाम लेकर मांगते हैं, या फिर उस उत्पाद के ब्रांड को कैमरे में भरपूर कैद किया जाता है। जाहिर है जिन कंपनियों के उत्पादों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विज्ञापन किया जाता है फिल्म में, उनसे मोटे पैसे वसूल किए जाते हैं। फिल्मों के बढ़ते बजट में यह कमाई खासी राहत दे जाती है। फिल्म उद्योग के लिए पैसा कमाने के साथ–साथ बेशक यह बड़े गर्व की बात होगी कि आज के दिन भारतीय अर्थव्यवस्था में उसका प्रमुख योगदान है, लेकिन इस उद्योग से जुड़े लोग यह भी मानते हैं कि दोनों में यह संबंध पारस्परिक है। अमिताभ बच्चन को ही लें, तो उन्होंने कुछ साल पहले अमेरिका में एक फिल्म की शूटिंग के दौरान कहा था–भारत की तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था ने फिल्म उद्योग का बड़ा भला किया है। जब कोई देश आर्थिक रूप से मजबूत होता जाता है तो उसकी हर चीज पर दुनिया की नजर जाती है। यही वजह है कि भारत से आने वाली हर शै पर गौर किया जा रहा है। भारतीय सिनेमा भी उनमें से एक है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि विदेशी दर्शकों को ध्यान में रखते हुए फिल्में बनाई जा रही हैं, लेकिन अगर वे हमारी भारतीय फिल्में देख रहे हैं तो यह गौरव की बात है। अमिताभ की इस बात के बाद अब यह बहस का मुद्दा हो सकता है कि कौन किसका फायदा कर रहा है, लेकिन मुर्गी पहले या अण्डा जैसी बहस में न पड़ते हुए यह कहा जा सकता है कि भारतीय मनोरंजन उद्योग आज दसों अंगुलियों घी में और सिर कड़ाही में कहावत पर पूरी तरह खरा उतर चुका है।[15]

निष्कर्ष यह है कि मूक अभिनय से शुरू हुआ भारतीय सिनेमा अब सेटेलाइट से देश भर के सभी डिजीटल सिनेमाघरों में पहुँच गया है। आज हीरो ही नहीं हीरोइन भी नंबर वन है। करीना कपूर, कैटरीना कैफ, विद्याबालन, प्रियंका चोपड़ा, कंगना रानावत, रानी मुखर्जी की फिल्में जबरदस्त हिट होकर एक–एक फिल्म करोड़ो का व्यवसाय कर रही हैं। जहाँ सन् 2011 में बाड़ीगार्ड, रावन, जिंदगी न मिलेगी दोबारा, मेरे ब्रदर की दुल्हन, नो वन किल्ड जेसिका, सात खून माफ, डान–2, आदि व्यावसायिक सफल फिल्में आईं। वहीं 2012 की प्रमुख फिल्में कृष–2, सन आफ सरदार, हीरोइन, टाइटेनिक 3डी, अग्निपथ, धूम–3, एक था टाइगर, एक मैं और एक तू, फरारी की सवारी, बोल बच्चन। इन फिल्मों ने सन् 2012 के सिनेमाघरों में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया है। वहीं सन् 2013 में भाग मिल्खा भाग, चेन्नई एक्सप्रेस, राउड़ी राठौर, अग्निपथ, सत्याग्रह,जिन्दगी मिलेगी न दुबारा, ने भारत के साथ पाकिस्तान में भी अत्यधिक पसंद की जा रही है।सन् 2014 में कुछ अच्छी फिल्मों के आने की आशा है। देखा जाए तो 115 वर्षों तक के सफर में जहाँ फिल्में रील पर रिकार्ड कर सिनेमा हाल तक पहुँचाई जाती थीं तब हर प्रिंट पर लगभग एक लाख रूपये खर्च किए जाते थे। ट्रांसपोर्टेशन खर्च अलग। लेकिन सिनेमा के डिजिटल हो जाने से फिल्म की रील की जगह सीडी और हार्ड ड्राइव ले ली है। देश में अब तक एक स्क्रीन वाले लगभग 5600 सिनेमाघरों को डिजिटलाइज किया जा चुका है। फिल्में अब सेटेलाइट सिग्नल की मदद से सिनेमाघरों तक पहुँचती है। यही कारण है कि अब फिल्मों के हजारो–लाखों प्रिंट एक साथ रिलीज होते हैं। डिजिटलाइजेशन के साथ सिनेमा जगत में कई और बदलाव भी आए हैं। फिल्मों की क्वालिटी में सुधार आया है। अभी भी भारतीय फिल्म जगत में विकास के कई विकल्प खुले हुए हैं। देश में हर दस लाख लोगों पर सिर्फ दो सिनेमा स्क्रीन हैं। वहीं अमेरिका में दस लाख लोगों पर 117 सिनेमा स्क्रीन हैं। यूरोप में यह आंकड़ा 40 स्क्रीन प्रति दस लाख

है। भारत में पिछले 6 सालों में सिनेमा जगत का राजस्व दो गुना बढ़कर 14 हजार करोड़ रूपये हो गया है। पिछले कुछ सालों में थ्री डी की क्वालिटी में भी फर्क आया है। पुरानी फिल्मों को भी अब थ्री डी में बदला जा रहा है। टाइटेनिक और शोले जैसी फिल्मों को थ्री डी में बदलने की तैयारी की जा रही है। इस प्रकार भारतीय हिन्दी सिनेमा ने 115 वर्षों के सफर में अनेक दृष्टिकोण से सफलता का परचम भारत में ही नहीं बल्कि विदेशों में भी फहराया है। हिन्दी सिनेमा अब विदेशों में भी अत्यधिक पसंद किए जाते हैं।[16]

संदर्भ सूची

1. दीक्षित प्रवीण–जन माध्यम और पत्रकारिता भाग 01 वर्मा कम्पोजिंग एजेंसी, 127–472 जूही कानपुर, सन् 1980 पृष्ठ,36,38,39
2. रत्तू कुमार कृष्ण– इक्कीसवीं शताब्दी में बदलती भूमिका, सूचना तंत्र और प्रसारण माध्यम, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, सन् 2001 पृष्ठ,159
3. सिंह प्रकाश ओम–संचार और पत्रकारिता के विविध आयाम,ओमेगाा पब्लिकेशन, नई दिल्ली,सन्, 2004, पृष्ठ,159,268
4. कुमार राकेश–इलेक्ट्रानिक मीडिया एवं साइबर पत्रकारिता, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, सन् 2004 पृष्ठ,151,154,156
5. मित्तल महेन्द्र, भारतीय चलचित्र,अलंकार प्रकाशन दिल्ली, सन् 1975, पृष्ठ, 376,380,383
6. सिन्हा प्रसून–भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा,अल्फा पब्लिकेशन नई दिल्ली,सन्2002, पृष्ठ,14,16,19
7. तिवारी अर्जुन–दृष्य श्रव्य माध्यम कला और तकनीकी, तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, सन् 1999, पृष्ठ,34,56,80
8. रैणा शंकर गाौरी– दृष्य श्रव्य माध्यम कला और तकनीकी, ,ओमेगाा पब्लिकेशन, नई दिल्ली,सन्,1998, पृष्ठ,98,100,
,9. माहेश्वरी प्रसाद ओंकार–हिन्दी चित्रपट का गीति साहित्य,मोशन पिक्चर्स,इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम–15 से उद्धृत, सन् 1978 पृष्ठ,856,
10. काजमी वाहिद स्वामी–फिन्म संगीत इतिहास, संगीत विशेषांक इतिहास के आइने में भारतीय सिनेमा और एवरग्रीन गीत,संगीत, अंक,जनवरी, सन् 1998, पृष्ठ,19
11. लेले मधुकर–भारत में जनसंचार और प्रसारण मीडिया, राधाकृष्णन पब्लिकेशन, नई दिल्ली,सन्,2011 पृष्ठ,20,25,31
12. दास,विनोद–भारतीय सिनेमा का अन्तःकरण, मेघा बुक्स, एक्स–11, नवीन शाहदरा, दिल्ली–110032, पृष्ठ,150
13. तिवारी, स्वप्निल–युवा सिनेमा में समाज का चेहरा, परिकथा, नवंबर–दिसंबर, 2011, ,96 बेसमेंट फेजतृतीय, इरोजगार्डेन,सूरज कुण्ड, नईदिल्ली, पृष्ठ,33
14. पचौरी सुधीश– उत्तर आधुनिक मीडिया विमर्श, वाणी प्रकाशन, 4695, 21 ए–दरियागंज, नईदिल्ली–110002, संस्करण, 2009 द्वितीय, पृष्ठ,42
15. अश्क उपेन्द्रनाथ– फिल्मी दुनिया की झलकियां, नीलाभ, 5 खुसरोबाग, रोड, इलाहाबाद, संस्करण–2002, पृष्ठ,33
16. स्वयं का सर्वेक्षण एवं निष्कर्ष।